संरक्षक

प्रो. संजीव जैन

माननीय कुलपति

जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय

परामर्शदाता

प्रो. भारत भूषण

विभागाध्यक्ष

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

शारदा भिक्ति पत्रिका

संयुक्त अंक 11-12

जुलाई - सितम्बर

और

अक्तूबर – दिसम्बर 2025

प्रधान संपादक

डॉ. शशिकांत मिश्र (सह-आचार्य)

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

संपादक

विक्की कुमार (शोधार्थी)

आरती गुप्ता (शोधार्थी)

विश्वविद्यालय वेबसाईट : https://www.cujammu.ac.in

विभागीय मेल : Office.hnd@cujammu.ac.in

पत्रिका में प्रस्तुत रचनाओं एवं आगामी अंक हेतु सुझाव के लिए संपर्क सूत्र ,

दूरभाष- 9030963026

डॉ.शशिकांत मिश्र

सम्पादकीय

वर्तमान युग ज्ञान और कौशल का युग है और ये ज्ञान और कौशल मनुष्य समाज के लिए ईश्वरीय वरदान ही हैं। सत्य तो यह है कि ये ईश्वरीय वरदान चाहे वह वाणी के रूप में हो या ज्ञान के रूप में, मनुष्य इनके लिए उस निर्गुण निराकार सत्ता के पास चिर ऋणी है, जिन्होंने इस चराचर सृष्टि का निर्माण किया है। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर जहां चाँद पर पहुँच चुका है, सूर्यालोक में प्रवेश का सपना भी देख चुका है, साथ ही एआई (आर्टिफिसियल इंटेलिजेंस) जैसी तकनीकी का ईजाद कर लिया है, किन्तु यह निश्चित है कि मनुष्य के प्राकृतिक ज्ञान ने तकनीकी आधारित कृत्रिम बुद्धि के सामने कहीं न कहीं हार मान ली है। और यह भी देखा गया है कि वर्तमान में बढ़ रहे कृत्रिम बुद्धि के उपयोग से हमारा भविष्य भी खाई में गिरने वाला है। इस पर हमें गंभीर चिंतन-मनन करने की परम आवश्यकता है।

जब एआई (आर्टिफिसियल इंटेलिजेंस) और मनुष्य की बौद्धिक क्षमताओं के बीच द्वन्द्व मंचा हो, मशीनें और टेक्नोलॉजी, ट्रेडिशनल वर्क स्टाइल को चैलेंज कर रही हों और जीवन शैली में मशीनों का उपयोग बढ़ रहा हो तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मानवीय 'क्षमताओं की क्या उपयोगिता रह जायेगी? आज आधुनिक तकनीकें, मशीन और बौद्धिक क्षमताओं के अस्तित्व पर चिंतन और बहस जारी हैं। इसी परिप्रेक्ष में हमें मनुष्य और तकनीकी के बीच के अंतर को समझना होगा। इन सारे बदलावों के पीछे मनुष्य की गहरी सोच और ज्ञान ही तो है!

हमारे जम्मू-केंद्रीय विश्वविद्यालय के रचनाकारों ने विश्वविद्यालय द्वारा निरंतर प्रकाशित भित्ति पत्रिका 'शारदा' को नवकलेवर प्रदान किया है। इन नव अंकुरित रचनाकारों को भित्ति पत्रिका 'शारदा' के माध्यम से एक मंच प्रदान करने के लिए विश्वविद्यालय के परम आदरणीय कुलपति तथा पत्रिका के संरक्षक प्रो. संजीव जैन जी का प्रोत्साहन हमें हमेशा मिलता रहा है। इन महान सर्जकों को निरंतर नयी-नयी रचनाएँ सृजित करने हेतु प्रेरणा प्रदान करने में हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. भारत भूषण जी का अशेष योगदान भी है।

'शारदा' भित्ति पत्रिका के इस संयुक्त अंक (जुलाई-सितंबर तथा अक्टूबर-दिसंबर, 2025) के लिए रचनाएँ एकत्रित कर पत्रिका को सुंदरता प्रदान करने वाले पत्रिका के संपादकों शोधार्थी विक्की कुमार और आरती गुप्ता को विशेष बधाई। पाठकों के लिए प्रस्तुत हैं इन नवोन्मेषशालिनी प्रतिभाओं की लेखनी से निकली श्रेष्ठ रचनाएँ...

डॉ. शशिकांत मिश्र (सह -आचार्य)

प्रधान संपादक

वह सुबह मेरे गाँव की

वह सुबह मेरे गाँव की,
जहाँ चिड़ियों की चहक
भर देती है जीवन की मधुर तान,
जहाँ ओस की बूंदें
भरती है हर पत्तियों में जान।
वह सुबह मेरे गाँव की,
जहाँ फूलों की महक
करें सुगंधित सारा आँगन,

जहाँ सूरज की पहली किरण
चूमे गीली मिट्टी का दामन।
वह सुबह मेरे गाँव की,
जहाँ मंदिर की घंटियाँ
जगा देतीं हैं स्वर में श्रद्धा का गीत,
जहाँ भोले शंकर की पहाड़ियाँ
भर देती हैं मन में असीम प्रीत।

वह सुबह मेरे गाँव की,
जहाँ झरने का निर्मल जल
भरने जाते हैं श्रम-शील लोग,

जहाँ परिश्रम ही पूजा है
और संतोष ही है उनका योग।

वह सुबह मेरे गाँव की,
जहाँ हर कार्य में है
एकता, भाईचारे का भाव,
जहाँ सहयोग की खेती
जहाँ है द्वेष का अभाव।
जहाँ पकती चूल्हे की रोटी,
जहाँ घर-घर की सांस में है मिट्टी पोती,
जहाँ पुराने गीतों में आज भी
गूंजती हैं परंपराएँ।
जहाँ है साधारण जीवन
और मानवता का होता है गुणगान
ऐसी सुबह है मेरे गाँव की..।

नेहा कुमारी (विद्यार्थी)
हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

आकाश संवाद

इक ओट पर खड़ा
ताक रहा था मैं,
सोचा—कुछ कहेगा आसमाँ।
पर वह मूक सा
कह रहा था बहुत कुछ,
जो मैं सुन न सका—
लेकिन देख रहा था उसका कहना,
समझ रहा था उसके हावभाव।
आकृतियों की अनगिनत कतार,
संकेतों से भरे चित्र,
स्मृतियों को संजोए हुए
बनते-बिगड़ते असंख्य चरित्र।
मैं चाह रहा था जानना उसकी अनुभूति,
पर मैं अबोध था—
मेरी अल्पज्ञता
नहीं पहुँच पाई उस सत्य तक,
न उस चिन्मय वातावरण तक।
क्योंकि मैं बस...
सवालों के पुल बाँधता रहा
और हर बार लौट आया
अनभिज्ञ ही।

डालेश शर्मा (शोधार्थी)

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

सर्दी

सर्दी एक बार फिर आई है
गालों की लाली, लपटों की यारी साथ लाई है
न जाने खेतों में ये कैसी विभिन्नता छाई है
कहीं गाजर, कहीं पालक तो कहीं सरसों लहराई है
प्याले की चाय में अदरक ने अजब खलबली मचाई है
सुबह उठते ही सूर्य की किरण मंद-मंद मुस्काई है
लम्हों बाद सुनसान छतों पर रौनक आई है
नीले अंबर पर पतंगों का आवागमन है
हिम पर्वतों पर
ऊंचे शिखरों पर ये श्वेत श्रृंगार कर आई है
जलप्रपातों की आवाज़ में अब जाके थोड़ी नरमी
आई है.....
पहनावे में परिवर्तन आया है
रंगीन कढ़ाई स्वेटर, शॉल ने कहर जमाया है
आखिर माँ ने
इन बच्चों को बंदर बाली टोपियां क्यों पहनाई हैं!!
कोहरे के आतंक ने शीत-लहरी की ठिठुरन से
जान पर बन आई है
अलबेली शामो ने आजकल कुछ ज्यादा हड़बड़ी दिखाई है
महीने बाद गाजर के हलवे ने
जायके की स्वाद बढ़ाई है
गुलाबों किताबों के बाज़ार में नई क्रांति आई है
प्रेम का महीना पास जो हमें बुलाई है

मंगल पांडे (विद्यार्थी)

जन संचार विभाग

दिसंबर का तीसरा दिन

ये सब एक साथ कितना ज़रूरी और गैर ज़रूरी लग रहा है। ज़रूरीयात है कि तुम केवल तुम बनकर नहीं रह सकते। तुम्हारी शक्ल केवल तुम्हारी बात नहीं करती। तुम्हारा इंतज़ार किस काम का है। तुम्हारा ज़ख्म भी भला कोई ज़ख्म है। तुम किसी तराजू पर नहीं तोले जा रहे हो ना । शुक्र मनाओ ज़िंदा लोगो में शामिल हो और सांस भी तुम ले ही लेते हो। दिन में पांच दफा, चार दफा या तीन दफा न सही दो या एक दफा कुछ खा भी लेते हो। अकेले रह लेते हो और फिर भी खुश रह लेते हो। या ख़ुद को याद करते रहते हो। हां समझ गया तुम दरअसल खुशी याद करते रहते हो। ज़िंदगी के तमाम ज़रूरी हिस्से दिमाग़ के एक तरफ चलते रहते हैं। बिना रुके एक रील जैसे। कभी बिना संगीत के, बिना आवाज़ के, बिना हाव-भाव के तो कभी इनके साथ दिमाग़ का हिस्सा जुड़ा रहता है। बात केवल और केवल तुम्हारी नहीं होती। सभी की होती है। ज़रूरी और गैर ज़रूरी के बीच तुम ख़ुद को देखते हो। जहां तुम्हारा इंतज़ार लंबा है। दिमाग़ में संगीत का हिस्सा है। किस्से हादसे लगते हैं और हादसे किस्से लगते हैं। ज़रूरी होने के बाद भी सब कुछ लगता है गैर ज़रूरी है। क्या ज़रूरी है कि तुम साल भर किसी वक्त के इंतज़ार में रहो। क्या जब वो वक्त आता है तो कुछ बदलता है। नहीं न, मौसम बदल सकता है। धूप छांव बदल सकती है। पर तुम्हारे भीतर क्या होता है। कुछ बदलता है। क्या तुम तीन बार खाते हो। क्या नींद आराम से आने लगती है। क्या झंझट महसूस नहीं करते। क्या घर का नक्शा साकार होता है। सब कुछ केवल तुम्हारी ज़रूरत और गैर जरूरत से आगे निकल गया है। तुम अपनी खुशी नहीं चुन सकते और न कि सारा दिन आंखों में उदासी लिए रख सकते हो। अंदरूनी न सही बाहरी उदासी को तो कम कर सकते हो। मेरी मानो तो ये बहुत ज़रूरी है।

कमल दीप सिंह (शोधार्थी)

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

बचपन

कहने में बचपन शब्द बहुत छोटा शब्द है, लेकिन इसी बचपन से हमारी कितनी सारी यादें जुड़ी होती हैं यह हमसे बेहतर और कौन जान सकता है? बचपन में तरह-तरह के खेल हमें कैसे भूल सकते हैं। मुझे आज भी वो दिन याद हैं जब हम स्कूल जाकर घर वापिस हल्ला करते हुए आते थे, तो हमारे मिट्टी से गंदे हुए कपड़े को देखकर मम्मी हमें डांट फटकार लगाती थी और फिर हमें लाड़ प्यार करती थी और हमें प्यार से अपने हाथों से खाना खिलाती। हमारे मन में यही चलता रहता था कि कब शाम हो और घर के बाहर अपने दोस्तों के साथ मस्ती करें। जैसे-जैसे अंधेरा होता हमारी मम्मी हमें आवाजें लगाना शुरू कर देती थी। उनकी आवाज़ सुनकर हम तुरंत घर की तरफ भाग जाते थे। घर जाते ही स्कूल का काम करते थे। रात को माँ खाना खिलाकर सोने के लिए कहती क्योंकि अगले ही दिन सुबह उठकर दोबारा स्कूल जाना होता है। कहाँ रहे अब यह बचपन के दिन, कहाँ रही वो यादें? बचपन का ज़माना ऐसा लगता था, जैसे लगता था कि वही एक खुशियों का खज़ाना था। बचपन में जब हम घूमने जाया करते थे तो हम चलते- चलते जल्दी ही थक जाया करते थे और पापा से कहते थे अब और नहीं चला जाता तो पापा हमें कंधे पर उठाकर ले जाया करते। आज वो बचपन कहीं नहीं है। सुबह स्कूल जाने के नाम से हमें बहुत डर लगता था और हम बहाने लगाया करते थे। मम्मी फिर भी हमारे बहानों को न सुनकर हमें ज़बरदस्ती स्कूल भेज देती थी। सच में आज तो कोई कहने वाला भी नहीं है। कैसे भूला जा सकता है जीवन के एक टुकड़े बचपन को जो कि हमारे अतीत से जुड़ा हुआ है। आज हम बड़े हो गये हैं लेकिन बचपन की यादें नहीं भुलाई जा सकती। माँ के आँचल की ममता, पिता का सिर पर हाथ, भाई-बहनों का प्यार यादें बनकर रह जाता है। कहाँ है अब माँ का प्यार और आँचल? क्या सच में हमारा बचपन पहले जैसा नहीं रहा, क्या हमने अपने बचपन से पीछा छुड़ा लिया? आज हम इतने बड़े हो गये हैं कि बचपन शब्द के लिए हमारे पास समय नहीं है। सच में बचपन का आना हमारे लिए खुशियाँ का खज़ाना था।

आरती गुप्ता (शोधार्थी)

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

श्रृंगार

शब्दों में चमके सत्य-सितारे,

ज्ञान बने जब दीप हमारे।

संस्कारों की शॉल ओढ़कर,

चलें पथिक सत्कर्म सँवारे।

नयन चलें हों स्वप्न संजोने,

मन वीणा का राग पिरोने।

विद्या का हो हार गले में,

नेह-नैतिकता भी साथ खिले।

न हो बस अंकों की लाचारी,

हो चिन्तन की सुगंध हमारी।

माँ की ममता, पिता की दृष्टि,

शिक्षा में हो भारत-वृष्टि।

नव निर्माण, नव प्रज्वलन,

बने किताबें दीप-उपवन।

शिक्षा हो जब सहज श्रृंगार,

तब जागे जन-जन में प्यार।

इंद्रा देवी (शोधार्थी)

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

भक्ति

भक्ति जब भूख में प्रवेश करती है, तो भूख व्रत बन जाता है।

भक्ति जब पानी में प्रवेश करती है, तो पानी चरणामृत बन जाता है।

भक्ति जब भोजन में प्रवेश करती है तो भोजन प्रसाद बन जाता है।

भक्ति जब यात्रा में प्रवेश करती है तो वह तीर्थ यात्रा बन जाती है।

भक्ति जब संगीत में प्रवेश करती है तो संगीत कीर्तन बन जाता है।

भक्ति जब घर में प्रवेश करती है तो घर मंदिर बन जाता है।

भक्ति जब कार्य में प्रवेश करती है तो कार्य कर्म बन जाता है

भक्ति जब व्यक्ति में प्रवेश करती है तो व्यक्ति मानव बन जाता है।

विक्की कुमार (शोधार्थी)

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

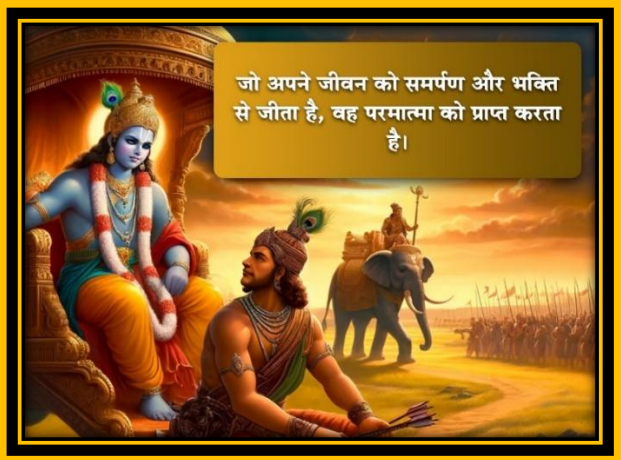

छठमहोत्सव: आस्था की अरुणिम अर्चना

जब नभ में नव अरुण झिलमिलाए,
जब धरती दीप-सा मुस्काए,
गंगा की लहरों पर ज्योति थिरकती,
भक्ति की लहरें मन में हिलोरें खाए।
यह पर्व नहीं केवल उत्सव,
यह तप, त्याग और तन की साधना है,
यह सूर्य की आराधना नहीं मात्र,
यह आत्मा की उज्ज्वल साधना है।
कुन्ती की प्रार्थना में जो करुणा थी,
प्रियव्रत की तपस्या में जो आस्था थी,
वही परम्परा आज भी जीवित है —
हर माँ के नेत्रों में वह ही दीप्ति सजीवित है।
वैदिक ऋचाएँ गूँज उठती हैं,
जब घाटों पर स्वर उठता है —
“जय छठी मइया! जय दिवाकर देव!”
सारा ब्रह्माण्ड मानो नतमस्तक हो जाता है।

पहला दिवस — नहाय-खाय।
तन शुद्ध, मन पावन, गंगा स्नान,
अन्न में बस श्रद्धा का दान।
दूसरा दिवस — खरना।
भूख से नहीं, मोह से विराम,
आत्मसंयम ही परम धाम।

तीसरा दिवस — संध्या अर्घ्य।
अस्ताचल रवि को नमन महान,
जलकणों में दीप समान।

चौथा दिवस — प्रातर् अर्घ्य।
उदीयमान सूर्य की स्वर्ण किरणें,
भक्ति से भर दें जीवन तरणें।
ठिठुरती देह, पर दृढ़ विश्वास,
व्रती माता का अचल प्रयास।
अश्रु-बिन्दु अर्घ्य बन जाते,
संकल्प अमर हो जाते।
वह कहती —
“हे सूर्यदेव! संतति रहे अमर,
हर घर में हो मंगल-प्रभाकर।”
उसके शब्द नहीं, स्तुति का स्तम्भ,
उसकी मौनता ही मंत्र-रम्भ।

छठ सिखाता —
शुद्धता केवल जल का स्नान नहीं,
यह अंतर्मन की निर्मल जान है।
संयम केवल उपवास नहीं,
यह आत्मबल का घोष महान है।
प्रकृति के संग जो एकाकार हो,
वही सच्चा भक्त, वही सच्चा योगी हो।
अर्घ्य के जल में प्रतिबिंबित रवि,

मानव और देवता का मिलन सजीव वही।

समापन मंत्र:

सूर्यप्रभो, जीवनदाता!

भक्ति का प्रकाश अनन्त बनाता।

छठमहोत्सव नमनमस्तु ते,

मानवता सदा ज्योतिष्मती रहे।

अमन कुमार चौधरी (विद्यार्थी)

तुलनात्मक धर्म एवं सभ्यता केंद्र विभाग

सफलता

असफलता से ही सफलता की शुरुआत होगी

न भूख होगी, न प्यास होगी, सिर्फ आशा साथ होगी।

संघर्षरत है जीवन तेरा सफलता पाने के लिए,

पल-पल तपना होगा विशेष दृष्टि में आने के लिए।

गिर कर संभलना है, हाँ तुझे अभी और चलना है,

मंजिल ज़रूर अपनी एक दिन, न जिंदगी यूँ ही आम है।

जो तमाशा बना है आज तू ठोकर खाकर

शिखर पर होगा नाम तेरा, देखेगा जग यह एक दिन आकर।

संघर्ष की आग में तपकर ही निखरता है इंसान,

हार के अंधेरों में छुपा होता है सफलता का ज्ञान,

जो डटा रहता है तूफानों में वही इतिहास रचेगा,

मेहनत की हर बूँद से, एक दिन सपनों का संसार सजेगा।

डर मत असफलता से, इसी से सफलता की शुरुआत होगी,

निखर जाएगा जीवन तेरा, ये उपलब्धि खास होगी।

प्रियंका शर्मा (शोधार्थी)

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

चौराहे की बेंच

चाहे जैसा भी हो ..

ये तन्हा सी जर्जर

खामोश सूनापन लिए

सुबह

दोपहर

रात..

धूप हो या बरसात..

मौसम चरमराती लोहे की बेंच.....

अक्सर इस चौराहे से जाते हुए

हमें पुकार ही लेती है

अपनी अनकही आवाज़ से ।।।।

अक्सर रोक लेते हैं हम

अपने कदमों को,

इसके लिए.....

थोड़ा ठहराव देने का

मन करता है खुद को,,

और हम भी

बन जाते हैं साथी

इसकी तन्हाई के ।।।।

कहने को बेशक

ये जर्जर बदहाल बेंच

अपने आखिरी पड़ाव पर है अब,

शायद कुछ वक्त बाद

इसको टुकड़ों में तोड़कर

नगर परिषद वाले ले जायेंगे ।।

मगर

क्या ले जा पाएंगे वो

उस वक्त को

उस सफर को ..

जो इसने सालों तक

बिना एक कदम चले भी,

भूले भटके थके निराश लोगों को दिया है ।।

हम अक्सर जब

इसकी तन्हाई के,

इसके वक्त के

साथी बनते हैं तो ,

ये दिखाती हैं हमें

इस चौराहे पर आते जाते भटकते लोगों को

सरसराती गाड़ियों की तेज रफ़्तार को

हाथ फैलाते किसी गरीब असहाय को

इंसानियत दिखाते किसी इंसान को

कई बार उन बेचैन आंखों को भी

जो ढूंढ रही होती हैं

रास्ता .... अपने सफर का ।।

अक्सर,

वो खुशनुमा हालचाल भी दिखा देती है

जिसे पूछ लेते हैं लोग

किसी अपने से किसी अजनबी से

जो मिल जाते हैं वक्त-बेवक्त

भटकते हुए अपने सफर में

आकर इस चौराहे पर ।।

अक्सर ....

ये जर्जर खामोश सी बेंच

हमें समझाती है कि

इंसान को अपने दिल के किसी कोने में

एक चौराहा भी हो जाना चाहिए ।।

जहां मिल सके

भूले भटके

अपने पराए अजनबी

वक्त-बेवक्त

हालचाल पूछने ।।

ताकि

जिंदा रहे उम्मीद

किसी के लौटने की...

किसी से मिलने की ।।।।।

ताकि

चलते रहें सफर में संग

ये खूबसूरत रिश्ते ।।

सुनील ग्रेवाल (विद्यार्थी)

राष्ट्रीय सेवा योजना विभाग

नदी और तालाब

तालाब नहीं एक नदी हूँ मैं!

क्योंकि तालाब होना

कहीं ठहर जाना

कहीं गंदला जाना

कहीं सड़ जाना

कहीं मिट जाना है....!!

मैं तो हूँ एक नदी

जो निरंतर चलती है

अपनी ही धुन में..

जिसे न गरज़ ज़माने की

न ही चिंता स्वयं के मिटने की

गंदला करते हैं लोग उसे भी

मगर

फिर-फिर निर्मल है नदी होती

क्योंकि नदी कभी भी मिटती नहीं!!

अनेक रंग है इसके

कुछ हल्के

कुछ धुंधलके

कुछ ऊँचे

कुछ नीचे हैं....

बात कोई जब हृदय में इसके है चुभन देती

किनारे तक छोड़ जाती है !

चट्टानों को भी तोड़ जाती है !

तू बाढ़ भी है

तू प्यास बुझाने वाली भी है
तू गंगा भी है
तू यमुना भी है
तू ही है सरस्वती..
तू माँ जन्मदायिनी
तू ही तो श्वास है देती |
तुझ ही में होता निर्वाण है
तू ही मानवता की पहचान है !

अंशु कुमारी (शोधार्थी)
हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

"व्यंजन"

कब कासे कहें कमली कलगी
ख़समा के खयाल में खोई हुई
गजराज के गर्जन से गहरा
घनघोर घटा घबराए जिया
चंचल चित चोर चुराय गया
छछनात हिया में छुरी सी लगी
ज़ालिम वह ज़ुल्म किया जबसे
झमके-झरना-झनकार करे
टहनी-टहनी-टकराहट हो
ठगिया! ठुकराए, नहीं ठहरे
डलिया लचकी, डग-डोल गया
ढोंगिया-ढोलना को ढूंढत है
तकते-तकते ,तरसे नयना
थप थाप लगा थिरके बैरी
दिग दर्शन द्वार लगे अंखियां
धन,ध्यान,धरम से उसकी धिया
नकली नहि नेह का नाता मेरा
पति पेम में पागल मैं पगली
फहरे चुनरी ,फड़के अंखियां
बरसे-बदरी, बिजुरी चमके
भयकंपित हो भहराए जिया
मन में मदना मनमानी करे
युग बीता युक्ति न योग कोई
रतिया न कटे रब खैर करे
लगता है लाश बचेगी मेरी
विष-विषय-विचार , विवान मेरा
शब शांत ,शरीर पिया गोदिया
षठ हर्षित हो , षट्कर्म करे
सुकुमार-सनेही-सुकून भरा
हमराह मेरा हमराज मेरा
क्षति, क्षोभ नहीं मन में है क्षमा
त्रुटि-त्रास-त्रिशूल की पीड़ा गई
ज्ञाता को प्रेम का ज्ञान हुआ

हर्षित तिवारी (शोधार्थी)
हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

आखिरी रात का राजा

शहर की सबसे ऊंची इमारत की 40वीं मंज़िल। हवा इतनी तेज़ थी कि कानों में सीटी बज रही थी। हरिया ने अपने खुरदरे, चूने से सने हाथों को झाड़ा और सामने देखा। वह 'पेंटहाउस' बनकर तैयार था। इटालियन मार्बल ऐसा चमक रहा था मानो चाँद का टुकड़ा ज़मीन पर बिछा दिया गया हो। दीवारों पर लगा पेंट अभी भी गीला था, जिसकी भीनी-भीनी महक हवा में थी। ठेकेदार चिल्लाया, "ओए हरिए! काम खत्म? चल, सामान समेट। कल सुबह 'साहब' आएंगे गृह-प्रवेश के लिए। सब कुछ चकाचक होना चाहिए।"

हरिया ने सिर हिलाया। बाकी मज़दूर नीचे जा चुके थे। वह अकेला रह गया था—अंतिम हाथ मारने के लिए। रात गहरी हो चुकी थी। लिफ्ट बंद थी, और 40 मंज़िल नीचे उतरने की हिम्मत उसकी बूढ़ी हड्डियों में नहीं थी। उसने सोचा, "आज की रात यहीं कोने में गुज़ार लेता हूँ।"

और तभी, एक अजीब सा जादू हुआ।

जैसे ही ठेकेदार गया और दरवाज़ा बाहर से सटा, उस आलीशान, करोड़ों के घर में सन्नाटा छा गया। हरिया ने डरते-डरते अपना मैला गमछा उस बेशकीमती संगमरमर के फर्श पर बिछाया। उसने पंखा चलाया। वही पंखा जिसे कल उसने अपनी जान जोखिम में डालकर टांगा था। हवा का झोंका उसे लगा। उसे याद आया, उसकी अपनी झोपड़ी में तो बिजली भी नहीं है। वह फर्श पर लेटा। आज उसे कोई टोकने वाला नहीं था। "अरे ओ! गंदे पैर मत रख!" "अरे! दीवार को हाथ मत लगा!" आज कोई आवाज़ नहीं थी। आज वह मज़दूर नहीं था। आज वह इस महल का पहला निवासी था।

उसने अपनी जेब से रोटियाँ निकालीं और वहीँ बीच हॉल में बैठकर खाईं, जहाँ कल डाइनिंग टेबल सजेगी। उसने शीशे की उस विशाल खिड़की से शहर को देखा—वही शहर जिसे वह बनाता है, पर जो उसे कभी अपनाता नहीं। उसे याद आया, गाँव में जब उसने मंदिर बनाया था, तो मूर्ति स्थापना से ठीक एक रात पहले वह 'गर्भगृह' में सोया था। लेकिन जैसे ही प्राण-प्रतिष्ठा हुई, उसे सीढ़ियों से भी नीचे उतार दिया गया था। "अब तुम अछूत हो," पुजारी ने कहा था। "अब तुम्हारा काम खत्म।" यह घर भी एक मंदिर ही तो था। और कल सुबह यहाँ भी नए देवता, 'मकान मालिक', आने वाले थे। हरिया उस रात बेफिक्र सोया। उस एक रात के लिए, इन दीवारों ने उसे एक मशीन नहीं, एक इंसान समझा था। छत ने यह नहीं देखा कि उसके कपड़े मैले हैं, बस यह देखा कि उसे पनाह चाहिए।

सुबह की पहली किरण के साथ ही लिफ्ट की घड़घड़ाहट सुनाई दी। हरिया हड़बड़ा कर उठा। उसने अपना गमछा उठाया, रोटियों के टुकड़े साफ़ किए, और कोने में दुबक गया। दरवाज़ा खुला। साहब, मेमसाहब और पंडित जी अंदर आए। "अरे, कितनी धूल है यहाँ!" मेमसाहब ने नाक सिकोड़ते हुए कहा। उनकी नज़र कोने में खड़े हरिया पर पड़ी। "ए! तुम यहाँ क्या कर रहे हो अभी तक? निकलो बाहर! पूजा शुरू होने वाली है। हरिया ने सिर झुकाया। वह अब वापस 'मज़दूर' बन चुका था। वह इंसानियत का चोला, जो उसने रात को ओढ़ा था, उतर चुका था।

उसने जाते-जाते एक आखिरी बार उस फर्श को देखा जहाँ उसने रात बिताई थी। उसने मन ही मन उस घर को अलविदा कहा। वह सीढ़ियों से नीचे उतरने लगा। उसे पता था, अब वह इस दरवाजे के अंदर कभी नहीं आ पाएगा। उसने इस घर को बनाया था, पर अब वह इसके लायक नहीं था।

वह राजा था, बस एक आखिरी रात का।

मृदुल शर्मा (शोधार्थी)

अंग्रेजी विभाग

तिरंगा

तीन रंगों से मिलकर बना यह तिरंगा,

सबसे प्यारा सबसे न्यारा हमारा तिरंगा।

हमारे देश की आन है शान है तिरंगा,

हमारे देश का स्वाभिमान है तिरंगा।

घर-घर लहराए तिरंगा,

हर घर फ़हराए तिरंगा

देश की खातिर जो शहीद हुए वीर,

उनकी याद दिलाता है तिरंगा।

तीन रंगों का कपड़ा ही नहीं, बल्कि

केसरी रंग में त्याग का प्रतीक है तिरंगा

सफ़ेद रंग में शांति का प्रतीक है तिरंगा

हरे रंग में विश्वास का प्रतीक है तिरंगा

शुभम शर्मा (शोधार्थी)

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

कुछ ख्याल

सोनिया ठाकुर (शोधार्थी)

हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग

कुछ ख्याल यूँ ही नहीं जन्म लेते मन में,
बिना दस्तक दिए आवाज़
जैसी कोई परिंदा खिड़की पर आ बैठा

सोचते ही कहीं ये ख्याल
बस ख्याल ही बनकर न रह जाए
जिन्हें मैं शब्दों में डालना चाहती हूँ
वह हवा में घुलकर मिट न जाए

दिन भर दो अनगिनत ख्याल
मन के आंगन में घूमते रहते है
कभी सपनों की तरह चमकते
कभी उदासी की छाँव में छुप जाते है

पर जब जब कल ही उठाती हूँ
नए शब्द देने के लिए
तब लगता है जैसे शब्द भी
ख्याल की तरह मजदूरी रह जाए
शायद ख्याल मेरे ही मेरे सच्चे साथी हैं

न जो बोलते नहीं
पर हर पल मेरे भीतर
एक दुनिया रचते रहते हैं!

सच है

यह सच है :—
तुमने जो दिया दान दान वह,
हिंदी के हित का अभिमान वह,
जनता का जन-ताका ज्ञान वह,

सच्चा कल्याण वह अथच है—
यह सच है!
बार बार हार हार मैं गया,
खोजा जो हार क्षार में नया, —

उड़ी धूल, तन सारा भर गया,
नहीं फूल, जीवन अविकच है—
यह सच है!

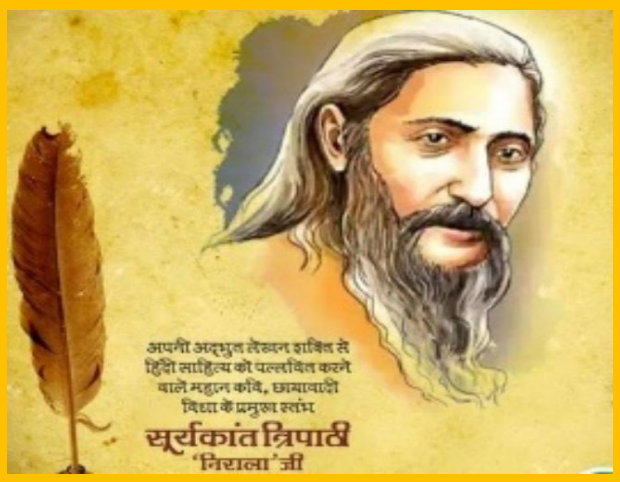

विशेष-स्मृति

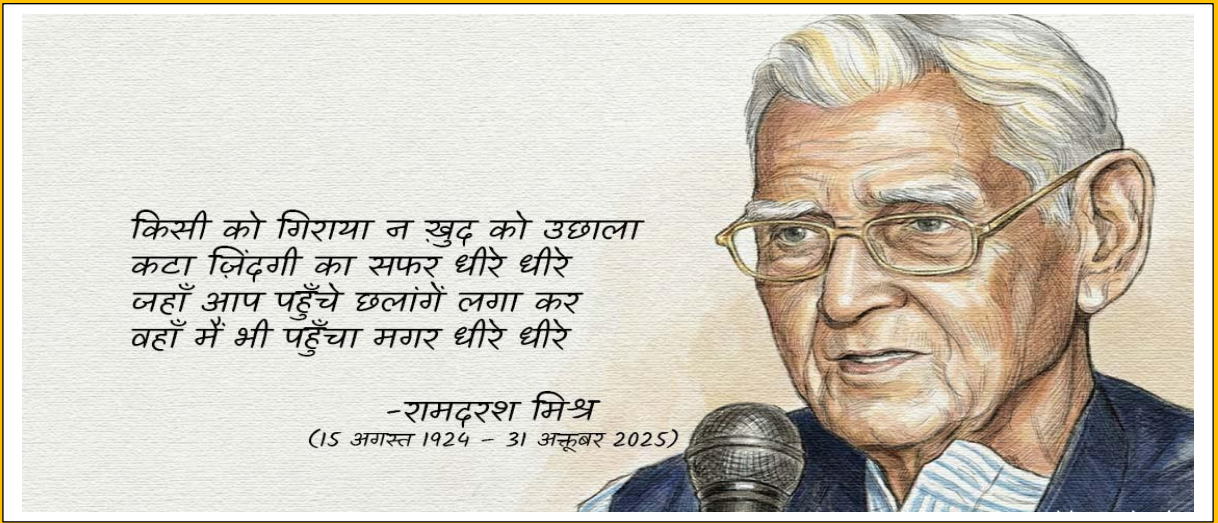

रामदरश मिश्र- भारतीय ग्राम्य संस्कृति के कवि

रामदरश मिश्र ऐसी कविता के कवि हैं, जो हृदय का केवल गहरा स्पर्श न करे, बल्कि हृत्तंत्री को देर तक झनझना दे, विचारों को उद्बुद्ध कर दे, जगा दे, पाठक को सहभावन कराने के साथ- स्थितियों का मूल्यांकन भी करा दे। उनकी सर्जकीय संवेदना में करुणा, विडंबना और मानवीयता को उद्घाटित करने की पक्षधरता है। वह सतही यथार्थ की जगह अर्थान्वेषी यथार्थ के सर्जक साहित्यकार हैं। साहित्य, समाज और जीवन से संयुक्त रहने के बावजूद वह साहित्य की शिविरद्वंद्वी से सर्वथा विलग रहे हैं। उनकी रचना में स्वदेश, समकाल और लोगों की गहरी पहचान और परख है। उनके लघु गीतों में कवि-दृष्टि का उन्मेष अपने शिखर पर है। उनके गीतों में कहन शैली की ऐसी बुनावट, भावानुभूति का ऐसा आत्मसातीकरण तथा उसके बीच संवादी सुरों की ऐसी सटीक सार्थकता अन्यत्र देखने को नहीं मिल पाती है। उनकी गीतात्मक प्रवृत्तियों में अनोखी बिंबोद्भावन की क्षमता है। अपने गीतों में वैयक्तिक राग और प्रकृति राग का वितान तानने वाले मिश्र जी गीत विधा की प्रकृति को जब सामाजिक, राजनीतिक विडंबनात्मक संत्रासों की निगूढ़ता देते है, तब वे युगचेता महान गीतकार बन जाते हैं। उनकी अभिधेयात्मकता व्यंजना में अंतरित हो जाती है। साहित्योद्यान की सभी विधियों में अपनी सर्जना के ऐसे सुमन खिलाने वाले मिश्र जी को ऐसी अनेकशः खूबियाँ उनके पाठकों को स्मरणीय हैं। वह गालिब, निराला और प्रसाद की तरह 'गंजी नए मानी' (कठिन भावबोध) के अनेकार्थों के कवि नहीं होकर भी अपनी कविताओं के सहजपन में सहज से असहज उद्गार तक की अर्थमूँजों को बड़ी सहजता से सहेज कर संपुटित कर देते हैं। यह सहजता उनके जीवन और सर्जन-दोनों का बीजतत्व है।

आज याद आता है कि रामदरश मिश्र का नाम उनकी कविताओं को पढ़ते-पढ़ते और उनसे प्रभावित होते-होते आज से 55 वर्ष पूर्व मेरे दिल-दिमाग पर छा चुका था। 1964 का वर्ष था। मैं नया-नया प्राध्यापक नियुक्त हुआ था। हिंदी की सभी साप्ताहिक, मासिक और त्रैमासिक पत्रिकाएँ नियमित रूप में खरीदता और पढ़ता था। उन दिनों कोई भी ऐसी प्रमुख पत्रिका नहीं थी, जिसमें रामदरश मिश्र नहीं छप रहे हों। उनके गीत और कविताएँ प्रायःछपती

रहती थीं। जो बार-बार पढ़े जाने के लिए मुझे आमंत्रित करती थीं और मेरे मन-मस्तिष्क में व्याप्त हो जाती थीं। गेयता, प्रभविष्णुता और काव्यलय से अर्थलय तक की मानसिक-यात्रा कराने की शक्ति-क्षमता उनकी कविताओं की विशेषता थी। 'धर्मयुग' हो या साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'कादम्बिनी' हो या 'ज्ञानोदय', हर साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिका में अनेक छपी कविताओं के बीच उनकी कविता अपने को अन्य सबसे अलग गाती थी और पाठकों को खींचती थी। उस समय मुझे उनके कवि होने के अतिरिक्त इस बात की जानकारी नहीं थी कि रामदरश मिश्र अन्य किन-किन विधाओं में लेखन करते हैं और न ही यह जानकारी थी कि वे दिल्ली विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक हैं। पर कुछ समय बाद ही मुझे कथा-साहित्य के अनुशीलन से पता चला कि वे उपन्यासकार भी हैं और कहानीकार भी। मैं इस बात से ज्यादा प्रभावित था कि किस निर्बाध गति से वे अपना कविकर्म कर रहे हैं और कितना अधिक प्रकाशित हो रहे हैं। समय बीतता गया। फिर 'पानी के प्राचीर' उपन्यास को लेकर उनकी प्रसिद्धि हुई और वे ग्राम्य और आंचलिक कथाकार के रूप में माने जाने लगे। फिर उनकी दूसरी पुस्तक आई 'जल टूटता हुआ'। ये दोनों नाम उनके उपन्यासों में भी उनकी काव्य-संवेदना को अभिव्यक्त करने वाले थे। मुझे लगा कि जल-तत्त्व है। यह उनकी कविता में भी देखने-गुनने को मिल जाता था। नदी, बाढ़ और बरसात से भरा है उनका साहित्य।

'नदी

बड़े भोर सारस केंकारे

नदिया तीर बुलाए'

का आकर्षण देखें...।

उन्हीं दिनों मैं नई कहानी की प्रयोगधर्मिता पर अपना शोध-कार्य संपन्न कर रहा था। मैं उनकी कुछ कहानियों को लेना चाहता था, पर यह बात मेरी समझ से बाहर थी कि मैं नई कहानी आंदोलन से उन्हें किस तरह जोहूँ। उस समय मुझे पहली बार इस बात का भान हुआ कि रामदरश मिश्र एक ऐसे कथाकार हैं जो किसी आंदोलन या किसी वाद या शिविर के कथाकार नहीं हैं। वे एक ऐसे मुक्त कथाकार हैं, जिनके यहाँ परिवार, समाज, देश और युगबोध सभी मिल जाएँगे। पर किसी ठप्पे के तहत आप उनका विवेचन नहीं कर सकते। अतएव उनकी कहानियों से प्रभावित होने के बावजूद मैं उनका उपयोग अपने शोधकर्म में नहीं कर पाया। तभी मुझे यह भी पता चला कि प्रकृति के जल-तत्त्व के साथ बचपन और कैशोर्य की सघन स्मृतियों के कारण उनका गहरा आत्मीय लगाव है। पानी को देखने की दोनों दृष्टियाँ उनके पास थीं-पानी के उभार की और पानी के बिखराव की।

एक लंबा समय बीत गया। मैं अपनी अध्यापकीय वृत्ति में रमता गया। दैनिक कार्यभार इतना था कि उससे मुक्त नहीं हो पाता था। अनेक परिषदों के दायित्व भी मेरे साथ जुड़े थे। हाँ, जब-जब उनकी कोई औपन्यासिक नई कृति आती थी, तब-तब मैं उन्हें पढ़ता और रामदरश जी को सराहा करता था। पर बहुत चाहकर भी तब मैं न उनसे पत्र-सरोकार बना सका और न उन पर कुछ लिखने का अवसर ही निकाल सका। 1977 का साल था। मैं भागलपुर विश्वविद्यालय सेवा से गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में रीडर बनकर आ गया था।

तभी एक दिन उस वर्षात में मेरे विभागीय प्रोफेसर और अध्यक्ष डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने अपने कमरे में बुलाकर मेरा उनसे परिचय कराया। मेरे सामने डॉ. रामदरश मिश्र थे, जो विभाग में किसी की मौखिकी संपन्न

कराने आए थे। लंच का समय हो रहा था, सो मेघ जी डॉ. रामदरश मिश्र को अपने साथ अपने घर लंच कराने ले गए। इस पहली और छोटी-सी मुलाकात में मैंने पाया कि रामदरश जी शांत-संयत और हँसमुख थे। तब पाँच-छह वाक्यों में उनसे मेरी जो संक्षिप्त बात-चीत हुई, उससे उनकी शालीनता और आत्मीयता का भी आभास हुआ।

रामदरश मिश्र जी से मेरी दूसरी मुलाकात इसके एक वर्ष बाद हुई। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला में एम.ए. की उत्तर-पुस्तिकाओं के मूल्यांकन के लिए कई विश्वविद्यालयों से लोगों को बुलाया गया था। उनके आमंत्रण पर मैं अमृतसर से पहली बार शिमला पहुँचा था और अतिथि-भवन में ठहरा था। वहीं मुझे रात में 'डिनर' के समय डॉ. रामदरश मिश्र जी सपत्नीक मिले।

हमलोग ने साथ-साथ भोजन किया। जब हमलोग अपने-अपने कमरों में जाने के लिए पहली मंजिल की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे तब मैंने उनसे सहज भाव से पूछा कि आप किस कमरे में हैं? उन्होंने अपने कमरे की जो संख्या बताई वह कमरा मेरे कमरे के बगल वाला कमरा निकला। अब हमलोग परस्पर पार्श्ववर्ती थे। दूसरे दिन नाश्ते के समय हमलोग ने साथ-साथ विश्वविद्यालय-कार्यालय जाने का कार्यक्रम बनाया, क्योंकि कार्यालय के निर्दिष्ट होने के बावजूद हमें यह पता नहीं था कि वह भवन कहाँ पर है और हमें किस तरह वहाँ पहुँचना है। विश्वविद्यालय का अतिथि-भवन पहाड़ की निचाई पर स्थित है और विश्वविद्यालय का वह कार्यालय उससे ऊँचाई पर।

सो हमलोग अतिथि-भवन से नीचे उतरकर एक साथ ठीक दस बजे ढ़ालवे से चलते हुए ऊँचाई की ओर बढ़ने लगे। मैं मिश्र जी से सत्रह वर्ष छोटा हूँ। फिर भी हम दोनों की साँस चढ़ने लगी। हमने अपनी गति धीमी की और अगल-बगल की रमणीक वृक्ष-मालाओं को पीछे छोड़ते हुए धीरे-धीरे विश्वविद्यालय के केंद्रीय-भवन तक पहुँच गए। वहाँ अपने गंतव्य स्थल के बारे में जो भी मिला, उससे पूछताछ की।

फिर सीढ़ियाँ चढ़ते हुए हम उस विशाल प्रशाल में पहुँच गए, जहाँ उत्तर-पुस्तिकाएँ जाँची जानी थीं। हमने अपना-अपना काम शुरू किया। बीच-बीच में चाय बिस्किट लेने का प्रबंध था। लंच के लिए हम पुनः लौट कर अतिथि-भवन गए और वहाँ से पुनः चढ़ाई चढ़कर उस विशाल प्रशाल में लौट आए। न जाने क्यों और कैसे उस दिन एक ही समय हम दोनों के मुँह से सहसा यह वाक्य निकला कि यह काम बढ़ा उबाऊ है और हमें सात-आठ दिन यहाँ रहना है। कैसे चलेगा?

उससे अगले दिन संध्या समय हम दोनों ने शिमला के मॉल-रोड जाने का कार्यक्रम बनाया। हम चाह रहे थे कि हमें विश्वविद्यालय की गाड़ी की सुविधा मिल जाए पर यह संभव नहीं था, क्योंकि वहाँ बीसियों लोग भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों से पधारे हुए थे। अतएव हमने संध्या समय बस से ही माल रोड जाने का कार्यक्रम बनाया। हम अतिथि-भवन लौटे तो भाभी जी तैयार बैठी थीं।

हमलोग ने डायनिंग हॉल में आकर चाय बनवा कर पी। फिर धीरे-धीरे ऊँचाई चढ़ते हुए हम परिसर के पोस्ट-ऑफिस की बिल्डिंग के पास पहुँचे। वहीं पर बस अड्डा था। हमलोग ने वहाँ से पहली छूटने वाली बस ली

और उससे मॉल-रोड शिमला पहुँच गए। मॉल-रोड पर तो हमें पैदल ही चलना था, इसलिए हमलोग थोड़ा-बहुत ही चले-फिरे। फिर उस ऊँचाई से एक जगह नीचे की ओर उन्मुख हुए, क्योंकि नीचे बाजार था और भाभी जी को कुछ घरेलू उपयोगी चीजें तथा शॉल आदि की खरीद करनी थी। इस खरीदारी के क्रम में समय खिसकता गया और संध्या के सात बज गए। अँधेरा घिर आया था।

हमलोग उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ से बालूगंज होते हुए यूनिवर्सिटी तक मिनी बस जाती थी। पर वहाँ उस समय न कोई जाने वाली बस थी और न तत्काल उसके आने की कोई संभावना थी। हमें बताया गया कि जब गई हुई बस लौटकर आएगी, तभी यहाँ से जाना संभव हो सकेगा। ऊपर-नीचे करते हुए हम तीनों थक चुके थे। पर वहाँ नजदीक में बैठने की न कोई जगह थी और न कोई व्यवस्था ही।

हमलोग रेलिंग पकड़कर नीचे की ओर देखने लगे। नीचे सारा शिमला शहर और उसका रेलवे स्टेशन बत्तियों से जगमगा रहा था। सुदूर नीचे स्थलीय अंतराल पर बल्ब दीये की तरह टिमटिमा रहे थे। हम तीनों ही पहाड़ की चढ़ाई और यातायात की कुव्यवस्था से बुरी तरह प्रभावित थे। हमारे दो दिनों के अनुभव का निचोड़ यह चिंता थी कि शिमला में हमारे सात-आठ दिन कैसे कटेंगे? मिश्र जी दिल्ली जैसे शहर से आए थे जहाँ मिनट-मिनट पर यातायात के साधन और वाहन उपलब्ध हैं। यद्यपि तब तक अमृतसर में रहते हुए मेरा साल भी पूरा नहीं हुआ था, पर मेरा

अनुभव भी यही था कि वहां ऑटो और रिक्शे जी.टी.रोड पर हर पांच-सात मिनट में सुलभ थे। पर हम तो कभी भारत की ग्रीष्मकालीन राजधानी रही उस शिमला में उपस्थित थे जहाँ यातायात का कष्ट हमें त्रासद प्रतीत हो रहा था। अंततः हम तीनों के मुँह से यही निकला कि हमलोग समतल मैदान के रहने वाले हैं, पहाड़ हम सबके लिए एक-दो दिन घूमने-फिरने के लिए तो ठीक है, पर यहाँ हमारे सात-आठ दिन कैसे कटेंगे? खैर! हमें कोई एक घंटे बाद एक मिनी बस मिली और हमलोग विश्वविद्यालय-परिसर में आ गए। फिर वहाँ से खरीदे हुए सामान को उठाया। कुछ ऊपर चढ़ते और नीचे ढालवें से उतरते हुए हम विश्वविद्यालय के अतिथि-भवन पहुँचे और वहाँ सीधे डाइनिंग रूम में आ धमके, क्योंकि हम में इतना धीरज शेष नहीं रह गया था कि हम सीधे ऊपर अपने- अपने कमरों में जाएँ और फिर वहाँ से फ्रेश होकर हम नीचे खाने की मेज तक आएँ। थकान ने हमारे धीरज का मानो चीरहरण कर डाला था।

उस रात हमलोग खाकर सीधे अपने-अपने कमरे में गए और सो गए। फिर तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें दिन विश्वविद्यालय-व्यवस्था का वहीं एकरस रूटीन कार्यक्रम रहा। बीच-बीच में इस एकरसता को भंग करने वाली कुछ इतर चर्चाएँ चलती रहीं। कुछ उत्तर-पुस्तिकाओं में अमान्य तौर पर लिखे हुए अंशों को एक-दूसरे के पास जाकर बाँचने-सुनाने और हँसने-हँसाने का प्रयत्न करने का कार्यक्रम चलता रहा।

शिमला में रहते हुए मिश्र जी और भाभी जी के साथ हमारी आत्मीयता बढ़ी। मिश्र जी की कविताओं को उनके मुख से सुनने के अवसर मिलते रहे।

उस औपचारिक कार्यक्रम में एक अनौपचारिक आत्मीय भाव हमारे अपने-अपने कक्षों में परस्पर एक-दूसरे का स्वागत करने को सदैव तत्पर था। वहीं मुझे पता चला कि भाभी जी हिंदी की एम.ए. हैं और उन दिनों वह अपनी पीएच.डी. के लेखन में व्यस्त भी थीं।

उनके रहने से हमारे बीच पारिवारिक बोध विकसित हुआ। हफ्ता पूरा होने पर हमलोग सात दिनों की दिहाड़ी और यात्रा-भत्ता का चेक लेकर अपने-अपने गंतव्य शहर लौट आए। इसके बाद हम दोनों के बीच आत्मीय और अकादमिक दोनों प्रकार के संबध प्रगाढ़तर होते गए। मैंने उनकी कविता पुस्तक 'कंधे पर सूरज' की समीक्षा की, जो 'आलोचना' त्रैमासिक में प्रकाशित हुई। उसके बाद शायद ही उनकी कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण पुस्तक रही हो, जिस पर मैंने समीक्षा लेख नहीं लिखा हो। दिल्ली में आई बाढ़ पर उनकी प्रकाशित पुस्तक 'आकाश की छत' पर मैंने लंबा समीक्षात्मक लेख लिखा, 'दूसरा घर' उपन्यास पर भी लिखा। उनकी 'परिवार' नामक उपन्यासिका पर भी लिखा। उनकी आत्मकथा के दूसरे खंड की मैंने विस्तृत समीक्षा की। कविताओं में 'आम के पत्ते', 'आग हँसती है' तथा अन्य कई पुस्तकों पर भी आलेख लिखे।

रामदरश जी की कवि-दृष्टि की गहरी परख आज भी बेजोड़ है। वह अपनी सर्जनात्मकता में विश्व-दृष्टि के चश्मे से झाँक-ताक कर कविता नहीं लिखते। उनकी संवेदित दृष्टि उनके मर्म के तंतु-जाल को झंकृत कर देती हैं इसके साथ ही उनकी कवि-दृष्टि काल, स्थल, स्थिति, लोग उनकी करुणा, विडंबना, संत्रास, भय और सन्नाटे को अर्थवान करने लग जाती है। यह अर्थ सीधे दिल से टकराता और विवेक को झकझोरता है। इसीलिए मैं उन्हें सामान्य-सी घटना तक में कविता को साधने और बाँधने वाला अकेला और अद्वितीय कवि मानता हूँ।

वे यह नहीं कहते कि सन्नाटा बुनता हूँ, पर उनका कवि-धर्म यही करता है। उनकी इस पहचान और परख को प्रायः जनवादी कवि-अलोचक नहीं जानते-मानते हैं। रामदरश जी की जिजीविषा साहित्य से अनुप्राणित और साहित्य में ही निहित है। वही उनकी पिपासा है, वही उनकी रिरंसा (रमणेच्छा) है और वही उनकी सिसृक्षा है। वे प्रकृति और पर्यावरण तथा ग्राम्य भारतीय संस्कृति के कवि हैं, मानसिक विकृति के नहीं, जैसा आज प्रायः समकालीनों वैसे ही जैसे प्रेमचंद की कहानियाँ सहज होकर भी पाठकों को गोताखोरी के लिए आमंत्रित करती है। मिश्र जी अपने-अपने देखे, सुने और भोगे यथार्थ को कला-सत्य बना देते हैं।

में देखने-पढ़ने को मिलता है। उनकी वाणी में अब भी वही आकर्षण है। आँखों में वही दृष्टि की उत्सुकता है। काया थोड़ी क्षीण पड़ी है। गर्दन थोड़ी झुकी है, पर मेरुदंड पूर्ववत तना है, बहुत सारे संघर्ष के राज को पचाये। वैसे ही रामदरश जी की कविताएँ भी अपनी सहजता में सीधी गोताखोरी के लिए पाठकों को न्योतती हैं।

ठीक आपातकाल के दौरान उनके द्वारा लिखी एक कविता 'वसंत' ने मुझे झकझोर दिया था।

'कोयल से मैंने कहा-गाओ कुछ सन्नाटा कटे वह चुप रही

मैंने कहा-मेरे पास आओ कुछ सन्नाटा कटे वह डाल पर बैठी रही

मैंने कहा-अच्छा सुनो, मैं ही गाता हूँ। उसने सहमी निगाहों से चारों ओर देखा-और एकाएक उड़ गई...

इस कविता का शीर्षक है 'वसंत' और कविता में छाया है सन्नाटा। वसंत अनेकविध मुखरता का परासंदेशी शब्द (Hypogramic word) है। वसंत रूप, रस, गंध, स्पर्श, नाद-सबकी मुखरता है। यह कविता निराला के 'भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया' वाले वसंत की वासंती कविता नहीं है। यहाँ तो सन्नाटा-ही-सन्नाटा है।

यहाँ कोयल की पंचम तान को कौन कहे, कोयल निःशब्द, मूक-मौन है। वह गाने के आग्रह को ठुकरा कर चुप रह जाती है। कवि उसे अपने समीप बुलाना चाहता है, पर वह इसे भी नहीं स्वीकारती और डाल पर यथावत् बैठी रहती है। कोयल की इस चुप्पी और स्थिरता की यथास्थिति में अंततः कवि उसे श्रोता की भूमिका में आने का आग्रह करता है और कहता है कि मैं ही गाता हूँ, तुम सुनो। पर वह सहमी नजरों से चारों ओर देखती और उड़ जाती है। वह द्रष्टा भाव, भोक्ता भाव और साक्षी भाव-तीनों में से किसी भी भूमिका निर्वाह को नहीं स्वीकारती और उड़ कर पलायन कर जाती है। कविता में 'वसंत' कवि का बीज शब्द (key word) है और 'सन्नाटा' तथा 'सहमी निगाह' प्रतिपाद्य शब्द (Theme word) हैं।

"वसंत', 'आपातकाल (Emergency) बन जाता है और 'वसंतोत्सव' 'अनुशासन पर्व' में बदल जाता है। स्मरणीय है कि विनोबा ने आपात काल को 'अनुशासन पर्व' की संज्ञा दी थी। लोकमानस में प्रजा के बीच सन्नाटा है, सहमे-सहमे रहने की आशंकित स्थिति है। जन-मानस की अभिव्यक्ति प्रतिबंधित हैं, पर सत्ताधारियों के यहाँ वसंतोत्सव है। "आपातकाल' पर दुष्यंत ने गजलें लिखीं, धर्मवीर भारती ने 'मुनादी' कविता लिखी। पर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के छिनने, सन्नाटा छा जाने और सहमे सहमे रहने जैसी त्रासद-व्यंजना जैसी इस कविता में हुई है, वैसी मुझे अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिली। यहाँ सत्ता का बुना हुआ सन्नाटा है, कवि-दृष्टि का बुना हुआ सन्नाटा (मैं सन्नाटा बुनता हूँ) नहीं है।

कहना न होगा कि यह कविता रामदरश मिश्र को एक महान कवि बना देती है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यह कविता कालांकितता (Datedness) से उत्पन्न होकर भी कालातीतता (Beyojnd the time limit) का स्पर्श कर उठती है। इस कविता में कवि का पूरा स्वदेश, स्वदेश के लोग और उसका समकाल-तीनों ही मुखर हुए हैं। अपनी इस कविता में कवि की भागीदारी द्रष्टा, भोक्ता और स्रष्टा-तीनों की है।

पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'

इमेज स्रोत - नई धारा